8

14वीं से 19वीं शताब्दी तक

इस युग में भारत वर्ष पर मुसलमानों के अनेक आक्रमण हुए। मुसलमान मूर्त्ति-पूजा के विरोधी थे अत: उस समय के आक्रमणों तथा उनके शासन काल में मन्दिरों एवं मूर्त्तिकला को बहुत क्षति पहुँची। आकृति-चित्रण का निषेध होने के कारण मूर्त्तिकला ने ज्यामितीय आकृतियों, बेलबूटों तथा सूक्ष्म अलंकरणों के विकास में ही अपनी सारी प्रतिभा लगा दी। इस युग की कला के अधिकांश उदाहरण इसी प्रकार के हैं–

15वीं शती में मेवाड़ के महाराणा कुम्भा ने अनेक विशाल मन्दिरों का निर्माण कराया। गुजरात-विजय के स्मारक के रूप में उसने कीर्ति-स्तम्भ बनवाया। इस कीर्ति स्तम्भ तथा मन्दिरों के अलंकरण बहुत उत्तम हैं किन्तु मूर्त्तियों में अकड़-जकड़ है जो मूर्त्तिकला के पतन की प्रतीक है। विषयों की दृष्टि से इस कीर्ति स्तम्भ पर देवी-देवताओं के अतिरिक्त ग्रहों, नक्षत्रों, वार, महीनों तथा ऋतुओं तक की अगणित मूर्त्तियाँ अंकित हैं। अंगों की अनुपात-हीनता, मुद्राओं की अस्वाभाविकता तथा प्रभाव-हीनता आदि इन मूर्त्तियों की दुर्बल शैली का संकेत करती हैं।

राणकपुर—मध्य पन्द्रहवीं शती में राजस्थान के मारवाड़ प्रदेश में अरावली से घिरे राणकपुर के प्राचीन मन्दिर हैं। इन मन्दिरों के बाहरी रूप अत्यन्त भव्य और मनोहर हैं तथा आन्तरिक भाग विभिन्न प्रकार की मूर्त्तियों से सुसज्जित है। सूर्य मन्दिर के अतिरिक्त अन्य मन्दिर (चौमुखा मन्दिर, नेमिनाथ मन्दिर तथा पार्श्वनाथ मन्दिर) जैन धर्म से सम्बन्धित हैं। पार्श्वनाथ मन्दिर के बाहरी भाग पर खजुराहो की भांति शृंगारिक दृश्य भी अंकित हैं मन्दिरों के भीतर तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ स्थापित हैं स्तम्भों पर सुन्दर नक्काशी के अतिरिक्त नर्तकियों आदि की सुन्दर प्रतिमाएँ भी उत्कीर्ण हैं। मूर्त्तिकला की दृष्टि से इन मन्दिरों की आकृतियाँ उत्तर भारत के अन्तिम वैभव की साक्षी हैं।

मान-मन्दिर (ग्वालियर)—मध्य भारत में ग्वालियर का किला बहुत प्रसिद्ध है। 1510-1516 ई० के मध्य इसमें निर्मित मानसिंह का महल (मान-मन्दिर) तत्कालीन कला का सुन्दर नमूना है। यद्यपि इसमें कुछ कार्य बाद में मुगल युग में भी किया गया था तथापि इसकी दीवारों पर अंकित हंसों आदि की जो पंक्तियाँ अंकित हैं वे भारतीय परम्परा में हैं।

अकबरी महल (आगरे का किला)—मुगल शासक अकबर ने 1565 ई० में आगरे के किले का निर्माण आरम्भ कराया जो 1572 ई० तक चला। अकबर ने इस किले में अपने रहने तथा सभा करने आदि के लिये अनेक भवन निर्मित कराये। फतेहपुर सीकरी में भी उसने विस्तृत निर्माण कार्य कराया। इस समस्त कार्य में कहीं भी मानव आकृतियाँ आदि उत्कीर्ण नहीं की गयी हैं। केवल बेल-बूटों तथा ज्यामितिक नक्काशी का प्रयोग है जिनकी परम्परा

भारत में 1199-1212 ई० के मध्य निर्मित कुतुब मीनार आदि से चली आयी है। इनके अधिकांश में भारतीय शिल्प के परम्परागत अभिप्राय प्रयुक्त किये गये हैं। आगरे के किले के दिल्ली द्वार पर पत्थर के दो विशाल हाथी बनाये गये थे जिन पर जयमल और पन्ना की मूर्त्तियाँ थीं।

गोविन्ददेव मन्दिर (वृन्दावन)—सोलहवीं शताब्दी के अन्त (1590 ई०) में आमेर के राजा मानसिंह ने वृन्दावन में गोविन्ददेव मन्दिर बनवाया। इस मन्दिर के गर्भगृह तथा सभा मण्डप के अलंकरण में सर्वत्र बेल-बूँटे तथा ज्यामितीय अभिप्राय हैं, कहीं भी मूर्त्ति नहीं बनायी गयी है।

अन्य मुगल भवन—अकबर के पश्चात् के मुस्लिम शासकों ने जो भी महल अथवा मस्जिद आदि का निर्माण कराया। उनमें भी नक्काशी की यही परम्परा चलती रही। जहाँगीर द्वारा आगरे के किले में बनवाये गये जहाँगीर महल में मयूर मण्डप के तोड़े मयूरों की सुन्दर आकृतियों में बने हैं। अन्य मुगल शासकों ने जो भी इमारतें बनवायीं उनमें सपाट भित्तियों तथा ज्यामितीय आदि अलंकरणों का ही प्राधान्य है। उभरी हुई नक्काशी धीरे-धीरे जालीदार नक्काशी में बदल गयी हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानों कला शैली के प्राण निकल गये हों और केवल अस्थि-पंजर मात्र शेष हो। अहमदबाद की मस्जिद में वृक्ष की आकृति के आधार पर बनाये गये जालीदार महाराब इसके अच्छे उदाहरण हैं। (आकृति 19) मुगल शासकों की मूर्ति-विरोधी प्रवृत्ति के कारण भारतीय मूर्त्तिकला के विकास में उनका कोई भी योगदान नहीं है। यह युग इस शिल्प के ह्रास का युग है।

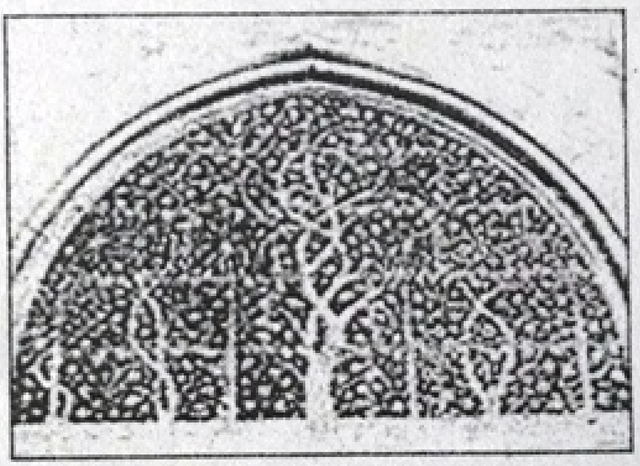

आकृति—19

जयपुर की मूर्त्तिकला—समस्त मुगल युग में उत्तर-भारत की धार्मिक आवश्यकता को पूरा करने की दृष्टि से जयपुर के कारीगर मूर्त्तियों का निर्माण करते रहे। इनमें किसी भी प्रकार की कलात्मक उत्कृष्टता नहीं थी। चूँकि इन मूर्त्तियों को ले जाने वाले केवल धार्मिक भावना से ही इन्हें बनवाते थे अतः इनकी कलात्मक श्रेष्ठता के विषय में कोई भी विचार नहीं किया जाता था। इसका परिणाम यह हुआ कि कला की शैली में निरन्तर गिरावट आती गयी। यहाँ तक कि आज जयपुर में भद्दी, ठिगनी और प्राचीन परम्परा से भिन्न शास्त्र-प्रतिकूल मूर्त्तियाँ बन रही हैं। कहीं-कहीं इनमें पाश्चात्य पद्धति का भी प्रयोग करके विदेशी शरीर-शास्त्र के नियमों का अनुकरण किया जा रहा है।

9

आधुनिक काल

भारत वर्ष में 1857 ई० के स्वतन्त्रता-संग्राम के पश्चात् ब्रिटिश-शासन को विधिवत् स्थापित करने और शक्तिशाली बनाने की प्रक्रिया आरम्भ हो गयी। इसके साथ ही भारतीय परम्पराओं को समाप्त करने की दृष्टि से पश्चिमी शिक्षा पद्धति का आरम्भ किया गया। इसका प्रतिरोध करने के लिए भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस की स्थापना की गयी किन्तु पश्चिमी सभ्यता का प्रवाह नहीं रुका। जो भी भारतीय विद्वान यूरोप जाते थे वे वहाँ सीखी हुई बातों को भारत में लागू करने का प्रयत्न करते थे। पश्चिम के कला-आलोचक भारत की प्राचीन मूर्त्तिकला को हेय दृष्टि से देखते थे। एक अंग्रेज जार्ज बर्डवुड ने प्राचीन बौद्ध प्रतिमाओं की तीखी आलोचना करते हुए कहा था कि "एक उबाला हुआ चर्बी से बना पकवान भी एक आत्मा की उत्कट निर्मलता तथा स्थिरता के प्रतीक का काम दे सकता है।" जिन अंग्रेजों को भारतीय कला से थोड़ी-सी भी सहानुभूति थी वे यूनानी प्रभाव से ही प्राचीन भारतीय कला की उन्नति मानते थे। ब्रिटिश भारत में भारतीय मूर्त्तिकला को कोई भी प्रोत्साहन नहीं मिला। तत्कालीन अधिकारियों ने अत्यन्त पतित शैली की यूरोपीय मूर्त्तिकला की ही प्रशंसा की और उसकी नकल करने वाले मूर्त्तिकारों को संरक्षण तथा प्रोत्साहन दिया। यही कारण है कि 19 वीं शताब्दी की परम्परागत शैली में जो कृतियां बनी हैं वे अच्छी नहीं है। 20 वीं शताब्दी में भारतीय मूर्त्तिकला के विकास का जो प्रयत्न आरम्भ हुआ है उसे यूरोपीय कला से प्रेरणा मिली है। इसके कारण नये-नये तकनीकों तथा सामग्री का प्रयोग हो रहा है तथा यूरोप के प्रभाव से आधुनिक आदर्श भी सामने आ रहे हैं।

भारत में आधुनिक मूर्त्तिकला का आरम्भ प्राचीन परम्पराओं के आधार पर न होकर यूरोपीय कला के अनुकरण से हुआ है। सन् 1902 के दिल्ली दरबार में भारतीय कलाओं तथा शिल्पों की एक प्रदर्शनी लगाई गयी थी जिसमें मूर्त्तिकार जी० के० महात्रे ने भी एक प्रतिमा प्रदर्शित की थी। "मन्दिर की ओर" शीर्षक युक्त संगमरमर की इस प्रतिमा में यूरोपीय यथार्थवादी शैली का प्रयोग किया गया था। उक्त प्रदर्शनी में इसे पुरस्कृत किया गया। इस प्रोत्साहन से प्रेरित होकर अन्य मूर्त्तिकार भी यथार्थवादी शैली की मूर्त्तियाँ बनाने लगे। इस प्रकार पश्चिमी आदर्श पर आधुनिक भारतीय मूर्त्तिकला की शुरुआत हुई। चित्रकार प्राय: नागरिक परिवेश के आधार पर प्रतिमाएँ बनाने लगे। ये कलाकृतियाँ किसी धार्मिक कार्य के लिये न होकर केवल घरों की शोभा बढ़ाती थीं अत: इनका संरक्षक पश्चिमी देशों से भारत में आया हुआ उच्च मध्यवर्ग था। प्राचीन युग की भांति कलाकारों के संघ नहीं बनते थे और कलाकार एक स्वतन्त्र व्यवसायी की भाँति लोगों के आदेश के अनुसार ही मूर्तियां बनाने लगे थे।

20वीं शताब्दी के आरम्भिक 30 वर्षों तक मूर्त्तिकला का प्रमुख केन्द्र बम्बई रहा। यहाँ

पर लोगों द्वारा दिए गए आदेश के अनुसार घरों या चौराहों अथवा सरकारी भवनों के बाहर या उद्यानों आदि में लगाने के लिए व्यापारिक स्तर की कलाकृतियां बनायी गयीं। प्राय: तीन स्थितियों में इनकी रचना की गई—(1) आवक्ष, (2) खड़ी हुई अथवा (3) अश्वारुढ़। इस प्रकार की प्रतिमाएँ बनाने की परम्परा 19वीं शताब्दी में यूरोप में चल रही थी और वहीं से इसे भारत में लाया गया था।

इस प्रकार आधुनिक भारतीय मूर्त्तिकला का आधार बनने वाले जो आदर्श नमूने कलाकारों के सामने आये वे पश्चिमी शिल्पियों द्वारा बनायी गयी स्मारकों या चौराहों आदि पर लगने वाली मूर्त्तियां थीं। सन् 1925-30 ई० के लगभग भारत में प्रसिद्ध यूरोपीय मूर्त्तियों तथा उद्यानों और धनी परिवारों के घरों को सजाने के काम आने वाली प्रतिमाओं की साँचे में ढली प्लास्टर ऑफ पेरिस की मूर्त्तियां आने लगीं। ये प्राय: किसी नग्न स्त्री, बूढ़े व्यक्ति अथवा किसी अन्य प्रकार के यूरोपीय मोडल को बिठाकर बनायी गयी होती थीं और अंग्रेजी पद्धति से शिक्षा प्राप्त किए हुए भारतीय शिल्पी इनकी अनुकृति बड़ी सरलता से कर देते थे। यूरोपीय संरक्षक इनको देखकर भारतीय कलाकारों को प्रोत्साहित तो करते थे पर अपने देश की कला की तुलना में इन्हें बहुत निम्न कोटि की समझते थे। हीन भावना पनप जाने के कारण भारतीय कलाकार अजन्ता आदि की परम्परा के अनुकरण का भी असफल प्रयत्न कर रहे थे। इस प्रकार भारत में यूनानी, रोमन, इटालियन अथवा ब्रिटिश मूर्त्तिकला की यथार्थवादी शैली के आधार पर भारतीय जन-जीवन के विषयों की मूर्त्तियां बनने लगीं। इनके विषय बहुत हल्के-फुलके होते थे जैसे भिखारी, पनिहारिन, पुजारिन आदि। मद्रास तथा बंगाल में भी इस प्रकार की अनेक मूर्त्तियाँ बनायी गयीं। जी० के० म्हात्रे के अतिरिक्त इस प्रकार की प्रतिमाओं के निर्माता लखनऊ के भगवन्तसिंह, मद्रास के नागप्पा तथा बंगाल के हिरण्मय रायचौधरी प्रमुख कलाकार थे। ये सभी कलाकार ब्रिटिश एकेडेमिक यथार्थवादी परम्परा के अनुयायी थे।

आधुनिक भारतीय मूर्त्तिकला पर इस समय सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी मूर्त्तिकार रोदां (Rodin, 1885-1917 ई०) की कला का प्रभाव पड़ने लगा जिसमें प्रतिमा के प्रत्येक अंग के तलों की ज्यामिति, धरातलीय गढ़नशीलता, कोण, प्रकाशीय प्रभाव तथा मुद्राओं एवं अवयवों की गतिशीलता के साथ आन्तरिक अनुभूति अभिन्न रूप से जुड़ी रहती है। रोदां की प्रतिमाओं में मार्मिकता की अनुभूति बहुत गहरी होती है। इससे प्रभावित होने वाले भारतीय मूर्त्तिकारों में फणीन्द्रनाथ बोस तथा देवीप्रसाद राय चौधरी के नाम प्रमुख हैं। इन कलाकारों ने भारत की आधुनिक भावनाओं जैसे देश भक्ति, समाजवाद, श्रम की महत्ता आदि से सम्बन्धित अनेक मूर्त्तियों की रचना की है जिनमें एक से अधिक मानवाकृतियों का समूह दिखाया गया है। ''श्रम की विजय'' तथा ''शहीद-स्मारक'' इस प्रकार की प्रसिद्ध कृतियाँ हैं जिनमें भारतीयता, देशभक्ति आदि की भावनाएँ हैं तथा तकनीकी दृष्टि से गति, मुद्राओं और समूह-योजना का प्रभावशाली रूप दिखायी देता है। (फलक चित्र सं० 16)

स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत के अनेक कलाकार आदेशों के अनुसार स्मारकों या घरों की शोभा बढ़ाने वाली यथार्थवादी शैली पर आधारित मूर्त्तियों की रचना कर रहे हैं। इनका उद्देश्य विशुद्ध रूप से व्यावसायिक है।

अनेक कलाकार मौलिक सृजन में व्यस्त हैं। इनकी कलाकृतियों की बाजार में बिक्री

नहीं होती। वे या तो कला-मर्मज्ञ संग्राहकों के पास रहती हैं या फिर संग्रहालयों की शोभा बढ़ाती हैं। आधुनिक भारत के कलाकार तकनीक की दृष्टि से पश्चिमी कला से प्रेरणा लेते हुए भी आधुनिक भारत की समस्याओं का आधार लेकर कला-सृजन कर रहे हैं। वे भारत के लोक-जीवन का व्यापक आधार लेकर अपनी कृतियों का निर्माण कर रहे हैं।

इस प्रकार के कलाकारों में यायावरी प्रतिभा के धनी कलाकार रामकिंकर का नाम सर्वप्रथम आता है। उनकी कला न भारतीय शास्त्रीय परम्परा में है और न ही यूरोपीय यथार्थवादी परम्परा में। वे सीमेण्ट के पतले घोल से मूर्तियाँ बनाते हैं। वे रोदां, मैलोल, एप्सटाइन और ब्रांकुशी के अतिरिक्त समसामयिक वादों से प्रभावित हैं। उन्होंने जिस भव्य कल्पना-शक्ति से संघात वातावरण को प्रस्तुत किया है वे रूप ब्रिटिश मूर्तिकार हेनरी मूर की लेटी-बैठी आकृतियों से कहीं अधिक सजीव हैं। उनकी कृतियाँ विदेशी प्रतिमाओं की भाँति भवनों के आन्तरिक अथवा बाहरी भागों या उद्यानों, चौराहों, फव्वारों आदि पर कहीं भी लगायी जा सकने योग्य हैं। उनकी मूर्तियों का धरातल चिकना न होकर वृक्ष के तने की भाँति खुरदरा होता है। सामग्री के इस प्रकार के प्रयोग में सुधीर रंजन खास्तगीर तथा अवतारसिंह पँवार भी उल्लेखनीय हैं।

धनराज भगत तथा प्रदोषदास गुप्त आदि की मूर्तियों में बाहरी आकार की सरलता, आकृतियों का लम्बापन, कोमल घुमाव तथा चिकने धरातल हैं। इनमें लयपूर्ण प्रभाव की सुखद अनुभूति है। कहीं-कहीं ज्यामितीय रूपों का भी तीखेपन तथा कठोरता से रहित प्रयोग है। इनमें लकड़ी, मिट्टी, कंकरीट तथा सोने और ताँबे के पत्तरों से भी मूर्ति रचना की जा रही है।

छैनी-हथौड़े से कोर कर मूर्तियाँ बनाने की परम्परागत तकनीक का प्रयोग भी कुछ शिल्पी कर रहे हैं। इसकी सबसे बड़ी विशेषता प्रस्तर-खण्ड के ठोस प्रभाव को सुरक्षित रखना है। इस दिशा में स्वतन्त्रता के पश्चात् बड़ौदा के शंखो चौधरी ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। उन्होंने मूर्तिकला को अन्य सभी प्रभावों से मुक्त करके केवल प्रयोग की जाने वाली सामग्री के प्रभावों तक ही सीमित रखा है। त्रि-आयामी प्रभाव, ठोस अवयवों तथा रिक्त स्थान के परस्पर सहयोग से उत्पन्न गतिशीलता आदि की विशेषताओं को ही उन्होंने मूर्तिकला का लक्ष्य माना है। घनवादी रूपों का भी उनकी शैली पर प्रभाव है। लगभग इसी प्रकार के प्रभाव उत्पन्न करने में जितेन्द्रकुमार भी संलग्न हैं।

सामग्री की (विशेष रूप से काष्ठ की) विशेषता को अक्षुण्ण रखने में बड़ौदा के महेन्द्र पण्ड्या ने पर्याप्त सफलता प्राप्त की है। वे इसमें छाया-प्रकाश के भी सुन्दर प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ हुए हैं। धातु की पतली पर्तों के प्रयोग से भी उन्होंने अनेक मूर्तियों का सृजन किया है। इसी प्रकार का कार्य रजनीकान्त पांचाल ने अत्यन्त सूक्ष्म कारीगरी के साथ करने में सफलता प्राप्त की है।

कोर कर मूर्तियाँ बनाने की तकनीक के अन्य कलाकारों में गिरीश भट्ट, नागजी पटेल, बलबीर कट्ट तथा रमेश पटेरिया आदि के नाम लिये जा सकते हैं।

1960 के दशक से एक नई पद्धति भारतीय मूर्तिकला में विकसित हो रही है। यह है कबाड़ की सामग्री से टुकड़े छाँट कर मूर्ति तैयार करना तथा वैल्डिंग पद्धति का प्रयोग। इसमें कतरनों के विविध रूपों में ही मूर्ति के अवयवों के रूपों की कल्पना की जाती है। ऐसे रूप

स्थापित मान्यताओं पर प्रहार करने तथा हलचल उत्पन्न करने वाले होते हैं। इनमें अनेक कबाड़े की वस्तुओं को किसी रूप में गढ़ना नहीं पड़ता, उनमें अचानक ही कोई रूप दिखायी दे जाते हैं और इन्हीं के आधार पर इनका प्रयोग कर लिया जाता है। मद्रास के धर्म रत्नम् भी इसी प्रकार की कलाकृतियाँ निर्मित करते हैं। उनकी इच्छा कम से कम वस्तुओं के प्रयोग की रहती है। बम्बई के कलाकार पोचखानावाला तथा बी० विट्ठल भी कबाड़े के टुकड़े जोड़ कर मूर्तियाँ बनाते हैं।

दिल्ली के मूर्तिशिल्पी अमरनाथ सहगल भी धातु-की मूर्तियाँ बनाते हैं। उनकी शैली अभिव्यंजनात्मक है। धरमानी तथा अनिल जैकब भी अभिव्यंजनावादी शैली के मूर्तिकार हैं।

मद्रास के मूर्तिकार प्राय: आलंकारिक कृतियां बनाते हैं। उनकी आकृतियाँ भी लोक तथा शास्त्रीय कला से निर्धारित रूपों के आधार पर निर्मित होती हैं जिन्हें वे अपनी शैली में ढाल लेते हैं। मूर्तिशिल्प की सामग्री में रूप की समस्या से उन्हें कोई सरोकार नहीं हैं। नन्दगोपाल तथा जानकीराम आदि इनमें प्रमुख हैं।

भारत की आधुनिक कला में तंत्र का भी प्रयोग होने लगा है। आधुनिक तकनीक, धनवाद के ज्यामितीय धरातलों तथा तांत्रिक आकृतियों के समन्वय का सबसे प्रभावशाली रूप सतीश गुजराल की मूर्तियों में देखा जा सकता है। बीरेन दे, के. सी. एस. पणिक्कर, गुलाम रसूल संतोष तथा प्रभाकर बर्वे आदि नवतांत्रिक मूर्त्तिकार हैं।

रस्सियों आदि से बुनकर इस प्रकार की आकृतियाँ बनायी जा रही हैं जो किसी व्यक्तित्व की प्रतिच्छवि का प्रभाव उत्पन्न करती हैं। इन्हें फाइबर स्कल्पचर कहा गया है। मृणालिनी मुखर्जी इनमें अग्रणी हैं।

आज के मूर्तिशिल्पी पत्थर, सीमेन्ट, धातु अथवा कबाड़े के टुकड़े, लकड़ी, ताँबा, पीतल अथवा चाँदी के पतरे, मिट्टी, प्लास्टिक, फाइबर ग्लास तथा फाइबर आदि सभी प्रकार की उपलब्ध सामग्री का प्रयोग करने में संलग्न हैं। आज के मूर्त्तिकारों का ध्यान सामग्री की विशुद्ध अनुभूति पर है, साथ ही वे सादृश्य के बजाय धरातलों, सीमा रेखाओं, गति तथा अन्तराल के द्वारा वातावरण की हलचल और आन्तरिक अनुभूतियों को व्यक्त करना चाहते हैं। आज का कलाकार अपने विशिष्ट अनुभवों की व्यंजना के लिये नये कला तत्वों, नयी शैली तथा नये-नये तकनीकों की खोज कर रहा है। यथार्थवादी धरातल पर स्थित होकर आज की मूर्तिकला सामाजिक संघर्ष, कुण्ठा, यौन-तृष्णा और सूक्ष्मता आदि वृत्तियों की ओर मुड़ गयी है। इसके लिये मानवाकृति के साथ-साथ पशु-आकृतियों का भी प्रयोग हो रहा है और चिकने तथा खुरदरे विभिन्न प्रकार के धरातलों का भी उपयोग किया जा रहा है। आधुनिक भारतीय मूर्त्तिकारों की मन:स्थित अनिश्चित-सी है। भारत की प्राचीन परम्पराओं के विकास की उनमें क्षमता नहीं है। पश्चिमी देशों में जो नई-नई शैलियाँ सामने आ रही हैं, भारतीय मूर्त्तिकार उन्हीं की अनुकृति में लगे हैं। इस प्रकार आधुनिक भारतीय मूर्त्तिकला में कोई शैलीगत मौलिकता नहीं है। इसका अपवाद केवल श्रीधर महापात्र आदि मूर्त्तिकार हैं जो पाश्चात्य प्रभावों से मुक्त रह कर भारतीय शिल्प-परम्परा में ही कार्य कर रहे हैं।

आसन वस्तु—जिस वस्तु या वाहन पर किसी आकृति को बैठा या खड़ा दिखाते हैं उसे 'आसन वस्तु' कहते हैं। भारतीय मूर्त्तियाँ चौकी, सिंहासन, चटाई, गज, मृग अथवा व्याघ्र चर्म, कमल, शिला, पद्मपात्र, सुमेरू, पशु (हाथी, सिंह, अश्व, वृषभ, महिष, मृग, मेढा, शूकर, गधा, शार्दूल आदि) पक्षी (मयूर, हंस, उलूक, गरुड़ आदि) जलचर (मकर, मीन, कच्छप आदि) इत्यादि पर बैठी अथवा खड़ी दिखाई जाती हैं।

आयुध—प्रतिमाओं के गुण अथवा शक्ति प्रदर्शित करने के लिए उनके हाथों का उपयोग किया गया है। किसी दैवी आकृति के अनेक गुण प्रकट करने की दृष्टि से हाथों की संख्या भी बढ़ायी गयी है। इन हाथों में जो वस्तुएँ दिखाते हैं वे किसी शक्ति, क्रिया या गुण की प्रतीक होती हैं। मुख्य रूप से निम्नलिखित आयुध अंकित किये गये हैं:—

आयुध		प्रतीकता
पात्र	—	औषधि, भिक्षा,
परशु	—	रक्षा, बन्धन-मोक्ष
घण्टा	—	क्षण-भंगुरता
धनुष-बाण	—	प्रेम, एकाग्रता, बुद्धि, काम (Sex)
शंख	—	नियम, धर्म, विधि (Law)
चँवर	—	गरिमा, उच्चता, अध्यात्म-संकेत
मणि (चिन्तामणि)	—	वैभव, सम्पन्नता, मन, आत्मा
त्रिशूल	—	शक्ति, अधिकार, मन-वचन-कर्म, इच्छा-ज्ञान-क्रिया, अग्नि-स्वर्ग-पृथ्वी।
पद्म	—	पृथ्वी, निर्लिप्तता, पवित्रता, करुणा, सहानुभूति, ज्ञान की शुभ्रता, ग्रीष्म, सफलता, आध्यात्मिक तथा लौकिक शक्ति, नारी तत्व, योनि, वरदान
दर्पण	—	नि:सारता, प्रतिबिम्ब, सूर्य, भौतिक भ्रम, आत्म-मुग्धता
कन्दुक	—	प्राकृतिक नियम, माया की क्रीड़ा
पाश	—	बन्धन, करुणा का बन्धन, प्रेम-पाश
माला	—	108 विषय, 108 देव
माला-सूत्र	—	सत्य का आधार, वस्तुओं के अन्तरंग में छिपा हुआ शाश्वत सत्य
पुस्तक	—	ज्ञान, धर्मग्रंथ
खड्ग	—	तप, अज्ञान का नाश, धर्म की शक्ति, विवेक, चातुर्य, प्रज्ञा
वज्र अथवा गदा	—	कठोरता, नियम, दृढ़ता, लिंग, विजय, धर्म सर्व-शक्तिमता

(8)

5

गुप्त तथा वाकाटक युग

गुप्त कला

गुप्त शासन में कला, शिल्प, व्यवसाय, वाणिज्य, साहित्य, ज्ञान, विज्ञान, धर्म आदि सभी क्षेत्रों में भारतीय सभ्यता की बहुत उन्नति हुई। यद्यपि गुप्त राजाओं का शासन काल लगभग 275 ईसवी से 500 ईसवी तक है तथापि उनके समय की कला का प्रभाव लगभग 650 ईसवी तक मिलता है। इसी प्रकार यद्यपि उनका शासन केवल उत्तर भारत में ही था किन्तु तत्कालीन दक्षिणी भारत की कला पर भी गुप्त कला का प्रभाव बहुत अधिक रहा है।

गुप्त काल में आकृति का माधुर्य और मण्डन की शोभा का जैसा नपा-तुला समन्वय हुआ है वैसा कभी नहीं देखा गया। कला सौंदर्य की प्रतिमा बनने के साथ-साथ आत्म-शक्ति को संचालित करने वाले आदर्शों की प्रतीक बन गयी। गुप्त कला में से कुषाण काल की कला का भारीपन निकल गया। उसका रूप कट-छँट कर अत्यन्त सन्तुलित और आकर्षक बन गया। आकृतियों में स्फूर्ति-युक्त दृढ़ता आयी। पुरुषों के केश कन्धों तक लटकने लगे। केशों में स्पष्ट 'माँग' दिखायी जाने लगी। आभूषणों का भारीपन कम हुआ और आभूषणों तथा वस्त्रों में सुरुचि और हल्कापन आया।

बुद्ध मूर्त्तियाँ–

गुप्त काल की बुद्ध मूर्त्तियों में कुषाण युग की मूर्त्तियों से अन्तर आया–

(1) कुषाण कालीन बुद्ध की मूर्त्तियों में चिपटी नाक, चौड़ा मुख-मण्डल तथा भारी शरीर अंकित किया जाता था। गुप्त युग में नुकीली नाक, गोल चेहरा तथा सुन्दर और कोमल कलेवर मिलता है, मानों मूर्त्ति की जो अनावश्यक स्थूलता थी वह काट-छाँट कर अलग कर दी गयी है।

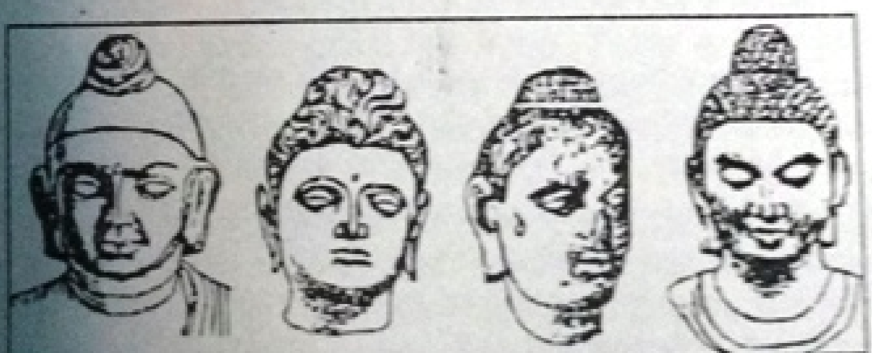

(2) कुषाण काल में चारों ओर घूम कर दर्शन किये जा सकने वाली सर्वतोभद्र मूर्त्तियाँ भी बनती थीं, गुप्त युग में केवल सामने से ही देखी जाने वाली मूर्त्तियाँ बनीं।

(3) कुषाण कालीन बुद्ध मूर्त्तियों का सिर प्रायः मुण्डा रहता है पर गुप्त युग में सिर पर सदैव घुँघराले (छल्लेदार) बाल दिखाये गये हैं। (आकृति-15)

(4) कुषाण युग की बुद्ध मूर्त्तियों का चीवर (शरीर का वस्त्र) मोटा तथा भारी बनाया जाता था। गुप्त युग में वह हल्के तथा पतले कपड़े का बनाया जाने लगा और उसके भीतर से शरीर की गढ़न के प्रभाव दिखाये जाने लगे। इन मूर्त्तियों में ऐसा प्रतीत होता है मानों चीवर भीग कर शरीर से चिपक गया है और यह केवल सिकुड़नों तथा किनारों (छोरों) से ही पहचाना जा सकता है, अन्यथा मूर्त्ति वस्त्र-रहित प्रतीत होती है।

(5) कुषाणकाल की मूर्त्तियों में संघाटी की धारी सदैव अन्दर को गड्ढेदार खुदी हुई बनायी गयी है जबकि गुप्तकाल में यह उभरी हुई बनायी गयी है।

(6) कुषाणकाल की बुद्ध मूर्त्तियों में अभय मुद्रा दिखाने के लिये दाहिना हाथ कन्धे की सीध तक उठा रहता है किन्तु गुप्तकाल में यह केवल कुहनी की सीध में ही रहता है।

(7) कुषाण मूर्त्तियों में बुद्ध सदैव दण्डाकार सीधे खड़े दिखाये गये हैं जिससे खड़े होने की मुद्रा में कुछ कठोरता आ गयी है। गुप्त मूर्त्तियों में खड़े होने का ढंग सहज हो गया है। इसमें एक पैरा का घुटना कुछ बाहर निकला रहता है और कमर में कुछ लोच दिखायी गयी है।

(8) कुषाण युग में बुद्ध मूर्त्ति के पीछे का प्रभा मण्डल बिल्कुल सादा रहता था, केवल परिधि के किनारे-किनारे अर्ध-चन्द्राकार चिह्न बने रहते थे। फिर इनके नीचे दो गोल लकीरें भी बनने लगीं। गुप्त काल के कलाकार इसमें मणिबन्ध का अलंकरण अंकित करने लगे। धीरे-धीरे गुप्त कलाकारों ने प्रभा-मण्डल को अनेक सुन्दर अलंकरणों से शोभित करना आरम्भ कर दिया।

गुप्त कालीन मूर्त्तियों में बुद्ध को खड़े अथवा बैठे हुए दिखाया गया है। ये हाथों के द्वारा अनेक भावों को व्यक्त करती हैं जिन्हें मुद्रा कहा जाता है। बुद्ध का अंकन प्रमुख रूप से निम्नलिखित पाँच मुद्राओं में हुआ है।

(1) ध्यान मुद्रा—पद्मासन लगाकर बैठे बुद्ध के दोनों हाथ गोद में एक-पर-एक रखे हुए तथा नेत्र बन्द दिखाये जाते हैं।

(2) अभय मुद्रा—खड़े या बैठे बुद्ध अपना दाहिना हाथ कन्धे की ओर मोड़कर हथेली खोल कर भक्तों को अभय प्रदान करते दिखाये जाते हैं।

(3) वरद मुद्रा—खड़े या बैठे बुद्ध के दाहिने हाथ की हथेली जब बिल्कुल सामने सीधी होती है तो अभय मुद्रा कहलाती है किन्तु जब भूमि की ओर होती है तो समझा जाता है कि वे वरदान दे रहे हैं। इसे वरद मुद्रा कहा जाता है।

(4) भूमि स्पर्श मुद्रा—जब बुद्ध की तपस्या भंग करने कामदेव पहुंचा तो उन्होंने भूमि को स्पर्श करके अपना साक्षी बनाया था कि उनके मन में कोई भी विकार नहीं है। इसी को भूमि-स्पर्श मुद्रा कहते हैं।

(5) धर्म चक्र प्रवर्तन मुद्रा—इसमें बुद्ध बांये हाथ की अंगुलियों के ऊपर दाहिने हाथ की अंगुलियों को इस प्रकार रखते हैं मानो वे बाँये हाथ में पकड़ा हुआ चक्र दाहिने हाथ से घुमा रहे हों तो इसे धर्मचक्र प्रवर्तन मुद्रा कहा जाता है। सारनाथ में उन्होंने सबसे पहला

(10)

धर्म का उपदेश दिया था, यह उसी को सूचित करता है। मथुरा, कौशाम्बी, सारनाथ आदि अनेक कला केन्द्र उस समय सक्रिय थे तथापि मथुरा और सारनाथ सर्वाधिक प्रसिद्ध हुए। गुप्त युग में जो अनेक बुद्ध प्रतिमाएँ निर्मित हुई आज उनमें से बहुत कम बची हैं। अवशिष्ट प्रतिमाओं में से निम्नलिखित बुद्ध प्रतिमाएँ विशेष महत्वपूर्ण मानी जाती है–

(1) सारनाथ की बुद्ध प्रतिमा–बुद्ध की यह प्रतिमा सारनाथ में संग्रहीत है। इसमें वे पद्मासन लगाये बैठे हैं तथा हाथों से धर्म चक्र के प्रवर्तन की मुद्रा बनाए हुए हैं। उनके आत्म-सन्तुष्ट मुख मण्डल पर अपूर्व शान्ति, दीप्ति, कोमलता और गम्भीरता है। शरीर के प्रत्येक अंग में सुकुमारता के साथ-साथ दिव्यता भी है। माँस-पेशियों का कोई चिह्न नहीं है। नीचे आधार पर बुद्ध के प्रथम पाँच शिष्यों आदि की आकृतियों के दो समूहों के बीच में एक चक्र है जो उपदेश का प्रतीक है। इस मूर्त्ति में बुद्ध के वस्त्र की सलवटों का अब कोई भी चिन्ह नहीं बचा है। किसी समय यह मूर्ति रंगी हुई थी जिसके कुछ चिन्ह अब भी अवशिष्ट हैं। पीछे अलंकृत प्रभा-मण्डल है जिसके दोनों ओर उड़ते हुए एक-एक गन्धर्व अंकित हैं (आकृति-16)।

आकृति–16

आकृति–17

(2) मथुरा की खड़ी हुई बुद्ध मूर्त्ति–यह इस युग की मथुरा कला की सर्वोत्तम, सुन्दर तथा भव्य मूर्त्ति है। इसमें बुद्ध अभय मुद्रा में खड़े दिखाए गए हैं। बाँये हाथ से वे वस्त्र का छोर पकड़े हैं। उनके हल्के तथा पारदर्शक चीवर में से शरीर के सुगठित अंग स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं। दाहिना घुटना तनिक आगे को है। सिर के पीछे मणिबन्ध आदि से अलंकृत आभा-मण्डल है जो किसी समय रंगा हुआ था। मुख पर अपूर्व शान्ति और आनन्द का भाव है। खड़े होने की मुद्रा में एक सहजता है। मूर्त्ति की चरण चौकी पर एक लेख खुदा है जिसके अनुसार 'शाक्य मुनि भगवान बुद्ध की इस अनुपम प्रतिमा को यशदिन्न नाम के एक भिक्षु ने स्थापित किया था।' (आकृति-17)

बुद्ध की प्रतिमा की ही केवल कल्पना नहीं की बल्कि बुद्ध के निर्वाण तक का दृश्य अंकित किया जो भारतीय कला में अन्त तक कहीं भी प्रदर्शित नहीं किया गया। (आकृति-8)

बुद्ध मूर्त्ति के भारतीय उद्भव के मत के पोषक तथा गान्धार कला में इसके प्रथम निर्माण के सिद्धान्त के विरोधी दल में प्रमुख रूप से आनन्द कुमारस्वामी, ई० बी० हैवेल तथा काशीप्रसाद जायसवाल आदि हैं। उनका मत है कि गान्धार शैली वाले क्षेत्र में भारतीय कला के नमूने हाथी-दांत तथा काष्ठ शिल्प आदि के रूप में प्रचलित थे। इन्हीं की कुछ मुख्य बातें ग्रहण करके गान्धार के विदेशी शिल्पियों ने बुद्ध की प्रतिमा का निर्माण किया। उन्होंने मूर्त्तियों के हाथ पाँव तथा अंगुलियों को वास्तविक की भाँति न बनाकर भारतीय प्रभाव से भावपूर्ण तथा लोचपूर्ण बनाया है। नेत्रों को भी कटाक्षदार, पलक को भारी तथा लम्बा दिखाया है। ग्रीक-रोमन आंख की पलक छोटी तथा कटाक्ष-रहित होती है। वृक्षकाओं अथवा शालभंजिकाओं की आकृति में कमर पतली, नितम्ब भारी तथा शरीर और हाथ पैरों की भंगिमा भारतीय ढंग से दिखायी गयी है। जातक कथाओं के दृश्यों का संयोजन भी सांची से मिलता-जुलता है और भारतीय है। बुद्ध की पद्मासन मूर्त्ति में दोनों चरण-तल उल्टे और एक सरल रेखा में दिखाये गये हैं तथा हाथों की कुहनियां जाँघों तक पहुँची हैं। केशों के दक्षिणावर्त घूमे हुए छल्ले भी वास्तविक नहीं हैं। कान भी बहुत लम्बे दिखाए गये हैं। अत: इन सब कारणों से बुद्ध मूर्ति को गान्धार शैली की उपज नहीं कहा जा सकता। मथुरा को ही बुद्ध की मूर्त्ति के प्रथम निर्माण का श्रेय दिया जाता है। यहाँ की सबसे प्राचीन बुद्ध प्रतिमा पर कनिष्क के राज्य के दूसरे वर्ष की तथा सारनाथ संग्रहालय वाली प्रतिमा पर तीसरे वर्ष की तिथि अंकित है।

आकृति—8

गान्धार की कला में अधिक स्फूर्ति, यथार्थ कल्पना और सुदृढ़ता तो है पर भावों की गहराई नहीं है। विषय की गहराई में पैठने और उसकी बारीकियों को समझने में गान्धार के कलाकार भारत के मध्य देशीय कलाकारों से बहुत पीछे थे।

गान्धार के कलाकारों ने लगभग पाँच सौ वर्ष तक विविध कला कृतियों का निर्माण किया। इनमें प्राय: एक रूपता है। शैली में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं है। इसके विषय केवल बुद्ध के जीवन की घटनाओं और बोधिसत्वों से सम्बन्धित हैं। नारी मूर्त्तियाँ बहुत कम हैं। केवल प्रसंगवश ही नारी आकृतियाँ बनायी गयी हैं। प्रकृति के प्रति भी गान्धार के शिल्पी का लगाव नहीं है।

आरम्भिक बुद्ध मूर्त्ति यूनानी देवता अपोलो (सूर्य) की भांति है। वह लम्बा और ढीला चोगा पहने है। इसमें सिकुड़ने भी हैं जो रोमन शैली की भाँति हैं। आरम्भिक मूर्त्तियों में सिर गोल है जो बाद की मूर्त्तियों में कुछ लम्बा हो गया है। बाद की मूर्त्तियों में सिकुड़ने भी हल्की बनायी गयी हैं। भौहों के बीच ऊर्णा (गोला) तथा लम्बे कान और जूड़े में लहरदार बाल बनाये जाने लगे। मथुरा की आरम्भिक मूर्त्तियों में बुद्ध केश रहित ही थे पर यहां भी बाद में गान्धार के अनुकरण पर सिर के ऊपर घुँघराले बालों का जूड़ा बनाया जाने लगा।

गान्धार की मूर्त्तिकला में भारतीय ढंग पर हस्त मुद्राओं आदि का बड़ा सुन्दर अंकन हुआ है। ध्यान, तर्क, उपदेश अथवा अभय आदि इनमें से प्रमुख हैं। बुद्ध के सिर पर उष्णीय, हथेलियों तथा पैरों में चक्र और त्रिशूल तथा पदमासन आदि इनके उदाहरण हैं। कुछ विद्वानों के मतानुसार आभामण्डल का प्रयोग भी गान्धार कला में यूनानी रोमन परम्परा के आधार पर हुआ है। अन्य विद्वानों की धारणा है कि पहले मूर्त्तियों के ऊपर छत्र बनाया जाता था। कालान्तर में वही तक्षण सुविधा के कारण सिर के पीछे बनाया जाने लगा।

बुद्ध के अतिरिक्त गान्धार कला में बोधिसत्वों की भी आकृतियाँ बनी हैं। ये अधिकांश में कनिष्क के राज्य काल की हैं। इनमें बोधिसत्वों की वेश-भूषा तत्कालीन राजाओं की भाँति है और सिर पर पगड़ी तथा शरीर पर अनेक आभूषण हैं।

गान्धार कला की सभी मूर्त्तियाँ आगे से ही उत्कीर्ण की गयी हैं वे पीछे से सपाट हैं। इतना अवश्य है कि वे आगे से इतनी गहरी खोदी गई हैं कि उनके पीछे से भी निर्मित होने का भ्रम होता है। सम्भवतः ये दीवारों में बने आलों आदि में स्थापित की जाती थीं। इन्हें हम अधिक उभरे शिल्प (Bass relief) की श्रेणी में रख सकते हैं।

गान्धार कला के दृश्य-संयोजन पर यद्यपि साँची का प्रभाव माना जाता है तथापि कथा के प्रस्तुतीकरण का ढंग भारतीय न होकर यूनानी-रोमन है। साँची आदि में दृश्यों का संयोजन इस प्रकार किया गया है कि कथा निरन्तर आगे बढ़ती रहती है और हम दृश्यों को लगातार देखते चलते हैं। इस प्रकार आरम्भ से अन्त तक की घटना एक ही फलक पर अंकित रहती है और कई दृश्य एक साथ जुड़े रहते हैं। इसके विपरीत गान्धार शैली में किसी कथा का एक ही दृश्य एक फलक पर अंकित किया गया है और उसमें घटना के सबसे प्रभावशाली या व्यंजक रूप को ही चुना गया है। "बुद्ध का जन्म" तथा "सुन्दरी और नन्द की कथा" आदि के दृश्य इसके उदाहरण हैं।

गान्धार कला के महत्त्व के विषय में दो मत हैं। एक मत के अनुसार इसका अपना कोई महत्त्व नहीं है। इसमें मौलिकता का अभाव है और पीछे से इसकी कोई परम्परा नहीं चली। दूसरे मत के अनुसार गान्धार कला के अवश्य कुछ मौलिकता है। यदि आक्रमणों से यह नष्ट न हुई होती तो आगे चलकर इसकी परम्परा अवश्य विकसित होती। इसमें सौन्दर्य और यथार्थ का अच्छा समन्वय हुआ है और इसकी कई विशेषताओं ने गुप्तकाल की भारतीय कला को प्रभावित भी किया है। भारत के अतिरिक्त इसका प्रभाव चीन तथा जापान आदि की कला पर भी पड़ा। इसने एशिया के अगणित कलाकारों को प्रेरणा दी। हूणों के आक्रमणों ने इस समाप्त कर दिया।

(ख) मथुरा शैली

प्रागैतिहासिक युग से लेकर शुंग काल तक विकास के पश्चात् मथुरा की कला कुषाण काल में प्रविष्ट हुई। इस युग में इस कला में कुछ ऐसी विशेषताएँ आ गयीं जिनके कारण आगे चलकर इसने सम्पूर्ण भारत की कला को प्रभावित किया। ई० पू० द्वितीय शती से लेकर ईसा की छठी शताब्दी तक मथुरा उत्तरी भारत में स्थापत्य कला तथा मूर्त्ति कला का एक प्रधान केन्द्र रहा है। शुंग काल में मथुरा की कला नितान्त देशी ढंग पर विकसित हुई। उस समय वह साँची और भरहुत की ऋणी थी। गान्धार कला का प्रभाव भी इस पर आया। मथुरा में ही बुद्ध की मानुषी रूप में मूर्त्ति की सर्व प्रथम कल्पना हुई। साथ ही इस युग में मथुरा

के तक्षकों ने बोधिसत्वों, जैनों के 24 तीर्थंकरों, हिन्दुओं के देवताओं शिव, विष्णु, ब्रह्मा, सूर्य और उनके अनुचर, कार्तिकेय, गणेश, पार्वती, दुर्गा, सप्त मातृका, लक्ष्मी, सरस्वती, इन्द्र, कुबेर, हारीती, यक्ष-यक्षी, नाग-नागी तथा लोक में प्रचलित देवी-देवताओं का अंकन किया। सम्पूर्ण मध्य भारत में यहाँ की मूर्त्तियाँ जाती थीं। श्रावस्ती, कौशाम्बी, सारनाथ, सांची, तक्षशिला आदि में भी यहाँ से प्रतिमाएँ मँगायी जाती थीं और वहाँ के कारीगर इन्हें देखकर अन्य प्रतिमाएँ बनाते थे। इस प्रकार इन देवी-देवताओं को जो रूप मिले वे इन्हीं कुषाण कालीन मथुरा के शिल्पियों द्वारा गढ़े गये थे। इन्हीं का आगे के युगों में विकास हुआ।

मथुरा शैली की पाषाण कलाकृतियों में प्रायः चकत्तेदार बलुहे लाल पत्थर का प्रयोग हुआ है जो निकट ही स्थित तांतपुर, फतहपुर सीकरी तथा रूपवास आदि स्थानों पर मिलता है और मूर्त्ति गढ़ने के लिए मुलायम होता है।

बुद्ध मूर्त्ति—कुषाण काल की बुद्ध मूर्त्तियों में चपटी नाक, चौड़े मुख-मण्डल तथा सुडौल एवं भारी शरीर का अंकन हुआ है। ये मूर्त्तियाँ कोर कर बनायी गयी हैं और चारों ओर से इनका दर्शन किया जा सकता है। इनके सिर मुंडे हुए जैसे हैं। शरीर पर मोटे तथा भारी चीवर का प्रयोग दिखाया गया है और आकृति सीधी दण्डाकार खड़ी दिखाई गई है। प्रभा-मण्डल सादा अंकित हुआ है और उसके किनारों पर केवल अर्ध चन्द्र के समान आकार बने हैं। प्रायः अभय मुद्रा का अंकन हुआ है। (आकृति-9)

आकृति—9

आकृति-10

कुषाण कालीन वेदिकाएँ मथुरा कला की अनुपम देन हैं। इन पर तत्कालीन सामाजिक तथा पारिवारिक जीवन के अनेकों दृश्य अंकित हैं जिनसे हमारे रहन-सहन तथा तत्कालीन सभ्यता का पता चलता है। आकर्षक भंगिमाओं में खड़ी यक्षियाँ, योद्धा, उपासक, शाल-भंजिकाएँ, पुष्प-चायिकाएँ, दोहद तथा बुद्ध और बोधिसत्व आदि अंकित हैं। इन दृश्यों में धार्मिक भावना को प्रधानता नहीं दी गई है।

यक्षी आकृतियाँ

कुषाण काल में मथुरा में बनी यक्षी आकृतियाँ बहुत आकर्षक हैं। ये स्तूप के चारों ओर लगी वेदिका के स्तम्भों पर गहरे उभार में बनायी गयी हैं। ये आकृतियाँ साँची के तोरण पर अंकित यक्षी की परम्परा में हैं। इनकी शरीर-रचना भारतीय सौंदर्य-शास्त्र के लक्षणों के अनुसार हुई है। क्षीण कटि, स्थूल नितम्ब तथा गोल और बड़े स्तन दिखाये गये हैं।

शरीर पर किसी वस्त्र का आभास नहीं होता। मोतियों से गुँथे हुए केश, कर्ण कुण्डल, मुक्ता की एकावली, गुच्छे की भाँति बने हार, भुजाओं में केयूर तथा कटक, कमर में मेखला तथा पैरों में नुपुर आदि धारण किये इन्हें विविध आकर्षक मुद्राओं में दिखाया गया है। शुक क्रीड़ा (आकृति-10)

उद्यान में पुष्प-चयन, कंदुक क्रीड़ा, अशोक-दोहद, निर्झर स्नान, स्नानोपरान्त वस्त्र धारण, वीणा अथवा वंशी वादन, वेणी-संहार आदि विभिन्न क्रियाओं में लीन सुन्दरियों की इन मूर्तियों को सौंदर्य का जीता-जागता रूप कहा जाता है। इनके अंकन में उत्तेजना, मादकता और ऐन्द्रियता है। तोरणों अथवा द्वारों पर उत्कीर्ण शाल-भंजिकाओं की भी सुन्दर प्रतिमाएँ मथुरा में बनीं जिनके उदाहरण सोंख से प्राप्त हुए हैं। (आकृति-11)

आकृति—11

मदिरा पान के दृश्य—मथुरा की कुषाण कला में कुबेर तथा उनकी स्त्री हारीती की अनेक मूर्त्तियाँ मिली हैं। कुबेर जीवन के आनन्द पक्ष के द्योतक हैं। मूर्त्तियों मे वे सुरापान करते हुए चित्रित किये गये हैं। मदिरापान की एक अन्य मूर्त्ति में एक स्त्री सुरा के मद से विह्वल होकर गिरती हुई दिखाई गई है। उसका पति और एक छोटी परिचारिका उसे सम्भाल रहे हैं। परिचारिका के हाथ में मदिरापात्र है। समीप ही एक सेवक दिखाया गया है। सम्पूर्ण दृश्य एक अशोक वृक्ष के नीचे चित्रित है। मूर्त्ति के दूसरी ओर एक नृत्योत्सव का दृश्य है।

जैन मूर्त्तियाँ—कुषाण काल में बहुत-सी जैन मूर्त्तियाँ बनीं। ये या तो पद्मासन में बैठी हैं या खड्गासन में खड़ी हैं। वस्त्र-विहीन होने से यह स्पष्ट है कि ये मूर्त्तियाँ प्राचीन दिगम्बर सम्प्रदाय ही हैं। इनके वक्ष पर श्रीवत्स का चिह्न अंकित है तथा सिर के बीच में उठा हुआ उष्णीय न होने से ये बुद्ध की मूर्त्तियों से सरलता से पृथक् की जा सकती हैं (आकृति-12)। इनमें आभा मण्डल भी बहुत अलंकृत हैं। मथुरा में जैन मूर्त्तियों का निर्माण कुषाणकाल से पहले ही होने लगा था। इस नगर के पश्चिम में कंकाली टीला नामक स्थान जैन धर्म का बहुत बड़ा केन्द्र था जहाँ खुदाई में अनेक जैन प्रतिमाएँ मिली हैं (आकृति-12) मथुरा कला में जैन मूर्त्तियों को तीन मुख्य भागों में बांटा जा सकता है–

(1) तीर्थंकर प्रतिमाएँ, (2) देवियों की मूर्त्तियाँ तथा (3) आयागपट्ट आदि। जैन देवता या अवतार 24 हैं जो 'तीर्थंकर' या 'जिन' कहलाते हैं।

आकृति—12

मथुरा कला में आदिनाथ (ऋषभदेव), नेमिनाथ, पार्श्वनाथ तथा महावीर स्वामी आदि तीर्थंकारों

की मूर्त्तियाँ मिली हैं। ऐसी भी कई प्रतिमाएँ मिली हैं जिनमें चारों दिशाओं में से प्रत्येक में एक-एक तीर्थंकर की मूर्त्ति बनी है। ऐसी प्रतिमाओं को 'सर्वतोभद्रिका' प्रतिमा कहते हैं। जैन देवियों की प्रतिमाएँ कुषाण काल के बाद बननी आरम्भ हुई। आयाग-पट्ट वर्गाकार शिलापट्ट होते थे और पूजा के काम आते थे। इन पर तीर्थंकरों, स्तूप, स्वस्तिक आदि पूजनीय आकृतियाँ और चिह्न खुदे रहते थे। इनके अतिरिक्त अनेक जैन शिलापट्ट तथा वेदिका स्तम्भ भी मिले हैं जिन पर जैन धर्म से सम्बन्धित मूर्त्तियाँ और चिह्न, देवता, यक्ष, यक्षी, पुष्पित लतावृक्ष, मीन, मकर, गज, वृषभ, मंगल-घट, कीर्तिमुख अथवा शृंगारपूर्ण दृश्य अंकित हैं। मथुरा के जो वेदिका-स्तम्भ हैं, उनमें से अनेक जैन धर्म से सम्बन्धित स्थानों के हो सकते हैं।

ब्राह्मण धर्म की मूर्त्तियाँ

हिन्दू मूर्त्तिकला के विकास की दृष्टि से मथुरा शैली का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। यहीं पर हिन्दू धर्म के अनेक देवी-देवताओं की सर्वप्रथम मूर्त्तियाँ कल्पित की गयीं।

ब्रह्मा की कुषाण कालीन प्रतिमाओं में मथुरा के शिल्पियों ने तीन मुख एक सीध में दिखाये हैं तथा चौथा मुख बीच वाले के पीछे दिखाया है। बुद्ध की भाँति इनमें भी प्रभा-मण्डल तथा अभय मुद्रा दिखाये गये हैं।

शिव की अनेक मूर्त्तियाँ मथुरा में इस काल में बनीं। कई कुषाण शासकों के सिक्कों पर नन्दी बैल पर बैठे एक या कई मुखों वाले शिव की आकृति बनी है। मथुरा कला में शिव के शिवलिंग तथा मुखलिंग रूपों का अंकन कुषाण काल में हुआ है।

विष्णु की कुषाण-काल की कई ऐसी मूर्त्तियाँ मथुरा में प्राप्त हुई हैं जो अद्वितीय हैं। प्रारम्भिक कुषाण कालीन विष्णु की एक चतुर्भुजी मूर्त्ति के एक हाथ में गदा, एक में चक्र, एक में अमृतघट है तथा चौथा हाथ अभय मुद्रा में है। बाद की मूर्त्तियों में शंख तथा पद्म भी मिलते हैं। एक अन्य मूर्त्ति में विष्णु को बोधिसत्व मैत्रेय की भाँति कल्पित किया गया है। इसी युग में मथुरा के शिल्पियों ने विष्णु की अष्टभुजी प्रतिमाएँ भी निर्मित कीं।

कृष्ण तथा बलराम की भी अनेक कुषाण कालीन मूर्त्तियाँ मथुरा में बनीं। एक शिलापट्ट पर नवजात बालक कृष्ण को लेकर यमुना पार करते हुए नन्द का अंकन है। कृष्ण के बड़े भाई बलराम शेषनाग के अवतार माने जाते हैं। इनकी मूर्त्तियाँ नाग देवताओं की मूर्त्तियों के समान ही बनायी गयी हैं अन्तर केवल इतना ही है कि इनके गले में वैजयन्ती माला भी पहनायी गयी है। सिर के चारों ओर नागफनों से युक्त आभा-मण्डल का अंकन हुआ है। वे हल, मूसल तथा वारुणीपात्र आदि लिये हुये दिखाये गये हैं।

इनके अतिरिक्त कार्तिकेय, इन्द्र, अग्नि, सूर्य, कामदेव तथा लक्ष्मी, सरस्वती, सप्तमातृका आदि देवियों की मूर्त्तियाँ और मिट्टी के खिलौने भी इस युग में मथुरा में निर्मित हुए।

राजाओं की मूर्त्तियाँ

मथुरा में शक तथा कुषाण राजाओं की भी अनेक मूर्त्तियाँ बनीं। मथुरा से आठ मील दूर माँट नामक स्थान पर एक राज-भवन था जिसमें मृत राजाओं की मूर्त्तियाँ रखी जाती

(16)

थीं। इसे 'देवकुल' कहते थे। ये मूर्त्तियाँ इसी देवकुल से मिली हैं। इनमें निम्नलिखित मूर्त्तियाँ विशेष प्रसिद्ध हैं—

(1) विम तक्षम की प्रतिमा—यह एक बड़ा प्रतापी कुषाण राजा था। इसने अपने सिक्कों पर त्रिशूलधारी शिव की नन्दी वाहन सहित आकृति अंकित करायी थी। इसे ''विम कदफसिस'' भी कहा जाता है। मथुरा कला में इसकी एक विशालकाय सिंहासनासीन प्रतिमा बनी जिसमें उसे पूरी बाहों वाला लम्बा चोगा, गले में गुलूबन्द, सलवारनुमा पायजामा और चमड़े के तसमों से कसे मोटे और भारी जूते पहने दिखाया गया है। हाथों में पतले कड़े पहने हैं छाती तक उठे दाहिने हाथ में एक तलवार थी जिसकी अब मूठ ही बची है। मूर्ति का बायाँ हाथ टूटा हुआ है।

(2) कनिष्क की मूर्त्ति—विम का उत्तराधिकारी कनिष्क कुषाण वंश का सबसे प्रतापी राजा था। वह बौद्ध था और उसके समय में कला और संस्कृति की बहुत उन्नति हुई। विद्वानों का मत है कि उसी के समय भगवान बुद्ध की मानुषी रूप में मूर्त्तियाँ बनना आरम्भ हुआ।

कनिष्क की जो खड़ी हुई मूर्त्ति मथुरा में मिली है उसका सिर नहीं है। शरीर पर एक कुर्त्ता और उस पर घुटनों तक नीचा मोटा चोगा है, पैरों में मोटे जूते हैं। दाहिने हाथ में राजदण्ड और बाँये हाथ में अलंकृत मूठ वाली तलवार है। तलवार की सुसज्जित म्यान कमर में लटकी है।

(3) शकराज चष्टन की मूर्त्ति—इसकी मूर्त्ति भी उपर्युक्त मूर्त्तियों के समान है। इसका चोगा जरीदार है तथा कमरबन्द भी अलंकृत है। ढीला पायजामा पहने है। तसमों से कसी एक तलवार भी अंकित थी जो अब टूट गयी है।

(ग) अमरावती-नागार्जुन कौंडा-शैली

अमरावती—दक्षिण भारत में आन्ध्र प्रदेश के गुन्तूर जिले में अमरावती में इसी काल में सातवाहनों (जो आन्ध्र प्रदेश जीत लेने के कारण 'आन्ध्र' भी कहलायें) ने 200 ई० पू० में बने एक स्तूप का अलंकरण कराया। इसका समय दूसरी शती ई० उत्तरार्द्ध से 250 ई० तक का है। यह संगमरमर का बना हुआ था। इस पर बड़े परिश्रम से अनेक अलंकरण बनाये गये थे। कुछ में बुद्ध पूजा के दृश्य हैं और कुछ में कमल आदि पुष्पों के अलंकरण हैं (आकृति-13)

आकृति—13

बुद्ध-जीवन तथा जातकों की कथाओं आदि का भी अंकन किया गया है। अमरावती का शिल्प भारतीय कला का अनूठा उदाहरण है। बुद्ध यहाँ प्रतीकों और चिह्नों द्वारा अंकित हैं (आकृति-14) और मानुषी रूप में भी। शुंग काल में सातवाहनों द्वारा साँची में जिस शिल्प को संरक्षण दिया गया था उसी का विकास भाजा और कार्ली में होते हुए अमरावती में पूर्णता को पहुंचा। (आकृति-13, 14)

जो भोंडी है। एक बार शुंगकाल में कलादक्षता को प्राप्त कर लेने के बाद पुनः इस काल में भोंडी आकृतियों का निर्माण अटपटा तो लगता है किन्तु अनुत्तरित नहीं है। अग्रवाल का विचार है कि भारत में आई सिथियन जनजाति अपने साथ भोंडी कला भी लाई थी और इसके प्रमाण में बोल्कन (मध्य एशीया) तथा चोची (उ.प्र.) की कला सादृश्यता को साक्ष्य के रूप में उन्होंने स्वीकार किया है [35]। इस तथ्य की व्याख्या दूसरे रूप में भी हो सकती है। जहां तक पूर्वकाल का प्रश्न है, एक सांचे के प्रयोग में दक्ष शुंगकालीन कलाकारों के हाथों मृण्मूर्ति कला अपने सौष्ठव को प्राप्त की, किन्तु कुषाण युगीन कलाकार उससे आगे बढ़कर नवीन प्रयोगों द्वारा मानवाकार मूर्तियों के निर्माण की दिशा में प्रयासरत हुए। इसके लिए पुनः हाथ से ही आकार प्रदान करना पड़ा। इस नवीन प्रकार की संरचना के प्रायोगिक चरण की आकृतियां भोंडी बनीं। दक्षता प्राप्त करने के बाद बड़ी आकृतियों के कुशल निर्माण में भी उन्हें सफलता प्राप्त हुई। एक अन्य कारण यह भी हो सकता है कि कुषाण कालीन धन सम्पन्नता से जनसामान्य की क्रयशक्ति में वृद्धि हुई, जनसंख्या में भी वृद्धि हुई, साथ ही अपने-अपने घरों में देव स्थापना की प्रवृत्ति बलवती हुई जिसके कारण मृण्मूर्तियों की अधिक संख्या में मांग बढ़ी। मांग के अनुरूप पूर्ति बनाए रखने के उद्देश्य से कलाकारों ने संख्या पर तो ध्यान रखा लेकिन गुणवत्ता को वे नियंत्रित नहीं रख सके। इसके साथ ही इस काल की मृण्मूर्तियों में प्रयुक्त मिट्टी उतनी अच्छी तरह से तैयार नहीं है और उसमें भूसा आदि का सम्मिश्रण अच्छा आकार प्रदान करने में बाधक हुआ।

कुषाण कालीन मृण्मूर्तियों के प्रमुख निर्माण केन्द्र मथुरा और तक्षशिला हैं। इसके अतिरिक्त ताम्लुक, पटना, राजघाट, कौशांबी, अहिच्छत्रा आदि स्थलों से भी उनके उदाहरण ज्ञात हैं। इनका विषय क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत है। इनमें अधिकता देव एवं मानव आकृतियों की है। देव मूर्तियों के संदर्भ में प्रतीत होता है कि उस काल का मानव अपने घर में देव को स्थापित करके पूजने की इच्छा रखता था। इतनी अधिक संख्या में न तो प्रस्तर मूर्तियां सुलभ थीं और न ही महंगी होने के कारण जनसामान्य द्वारा उनका क्रय सरल था। इस दृष्टि से मृण्मूर्तियों ने अहम भूमिका निभाई। देव आकृतियों में उल्लेखनीय है शिव, कार्तिकेय, गणेश, सूर्य, कामदेव, दुर्गा महिषमर्दिनी, सप्त मातृकाएं, बुद्ध और बोधिसत्व। यक्ष-यक्षिणी, नाग-नागी, किन्नर, गण, हारिति, वसुंधरा आदि की आकृतियां भी मिट्टी में बनीं। अहिच्छत्रा का शिव-पार्वती फलक कोसम के आरंभिक शिव-पार्वती प्रस्तर मूर्ति के समान बन पड़ा है। एकमुखी शिवलिंग मथुरा, राजघाट, कौशांबी, भीटा आदि से प्राप्त हुआ है। प्राचीन रूप में मातृदेवी का शक्तिशाली अंकन पश्चिमी बंगाल के बागड़ क्षेत्र में हुआ है। कौशांबी, अहिच्छत्रा, मथुरा के उदाहरणों से प्रकट है कि मातृदेवी की मूर्तियों में मातृत्व के लक्षण स्पष्टतः उभारे जाते थे, जैसे स्तन सुस्पष्ट और पीन, क्षीण कटि, भारी नितंब, मांसल शरीर। पाषाण मूर्तियों के समान कटि को घेरती चौड़ी करधनी, स्तनों पर बिखरे हार तथा कढ़े केश से सुसज्जित हैं ये आकृतियां। कामदेव अपने शत्रु शूर्पक के शरीर पर खड़े हैं जिनके दाहिने हाथ में पांच पुष्प बाण तथा बाएं में धनुष है। उनका शरीर पुष्प मालाओं से सुसज्जित है। पञ्चिका और हारिति की गोलाई में बनी बड़ी मूर्तियों भी मिली हैं। मथुरा और हस्तिनापुर से बोधिसत्व की अनेक मृण्मूर्तियों प्रकाश में आई हैं। अर्धनारीश्वर के भाव में बनी हर्मेस-अफ्रोदित की राजघाट की आकृति विशिष्ट है। रोम-मिश्र के प्रभाव से प्रभावित नग्नदेवी की आकृतियांभीटा, कौशांबी, सुसी के मृत्फलकों पर दर्शनीय हैं। अहिच्छत्रा, हस्तिनापुर, तक्षशिला से पुष्कर जैसे विदेशी अभिप्राय ज्ञात हैं। इसमें चारों ओर दीवारों से घिरे पुष्कर में स्थापित है मातृदेवी, वादक पर्थियन वेश धारण किए हुए हैं, चारों और दीपक रखने के लिए स्थान बने हैं तथा पक्षी भी उपस्थित हैं।

स्त्री मृण्मूर्तियों में प्रसन्न चेहरा और सजीवता का भाव है। उन्हें विभिन्न दृश्यों में रूपायित किया गया है। 'शुक क्रीड़ा' कौशांबी से, पुष्पधारिणी मथुरा से, शालभंजिका कौशांबी और राजघाट से, पति या प्रेमी द्वारा सहारा दी जा रही मदमस्त स्त्री आकृति अहिच्छत्रा से प्रकाश में आई है। चन्द्रकेतुगढ़ के नृत्यमुद्रा में वस्त्रों से अलंकृत नागरक तथा मिथुन फलक उल्लेखनीय है। संगीतज्ञ, अश्वारोही जैसे दृश्य भी मिट्टी में उभारे गए हैं। अहिच्छत्रा में बौने आकार वाले

के दान आस-पास की कलाकृतियों में उल्लिखित है, जैसे तुबवन के गहपति पतिथिय का नाम 3 सूचियों पर, उसके समीप की चौथी सूचि पर उसकी पुत्रवधू का और पांचवे पर भाई की भार्या का नाम अंकित है। दान स्थलों में जहां विदिशा जैसे समीपस्थ क्षेत्र की चर्चा है वहीं पोखर और आबू जैसे राजस्थान जिले में स्थित दूरस्थ क्षेत्रों का उल्लेख है। अनेक स्थलों की निश्चित पहचान होना अभी शेष है। भारतीयों के अतिरिक्त श्वेतपथ का एक विदेशी यवन भी दानदाताओं के वर्ग में सम्मिलित है।

दान दो प्रकार से दिया गया है : (1) वैयक्तिक दान, (2) सामूहिक दान। एक व्यक्ति या एक परिवार द्वारा एकाधिक वस्तुओं का दान तथा एकाधिक व्यक्तियों या परिवार के विभिन्न सदस्यों द्वारा प्रदत्त एक ही वस्तु का दान, दोनों स्थितियां विद्यमान थीं। प्रथम प्रकार के उदाहरण के रूप में पतिथिय द्वारा 3 सूचियों तथा उसके परिवार के दो अन्य सदस्यों द्वारा दो और सूचियों के दान को देख सकते हैं। एक अन्य उदाहरण में, वरदत की भार्या रोहा और इसला, पुत्री काना, भगिनि वरसेना, भतिजी दबेला के नाम अलग-अलग दान वस्तुओं पर उत्कीर्ण हैं। उज्जैनी के उपदता के परिवार से 6 दान दिए गए थे। दूसरे रूप में, पोखर के तुड और तुडा का नाम एक ही वस्तु पर अंकित है। सम्पूर्ण परिवार द्वारा एक ही कला वस्तु के दान का भी ज्ञान है, जैसे अजितिगुत के परिवार, पुलक वासी चुद के परिवार, धमुतर के परिवार द्वारा दिया गया दान; किन्हीं आचार्य के शिष्यों द्वारा भी दान दिए गए थे। एक आचार्य अय भंदुक के शिष्यो। भिक्खु अयकाण, भिक्खु धमदत, भिक्खु बुधरखित, तथा एक अन्य भिक्खु द्वारा अलग-अलग शिल्पाकृतियों का दान दिया गया था। सांची के अभिलेखों में गोष्ठि दान तथा ग्रामदान का भी उल्लेख है। गोष्ठि दान के उल्लेख हैं: 'वडलमिसान गोठिया दान वेदिसातो', और 'बोधगोठिया धमवदनना दानो, इसमें बोधगोठि का नाम 3 सूचियों पर अंकित है। ग्रामदान के उदाहरण के रूप में 'असवतिय गामस दान', 'वेजजस गामस दान' जैसे अभिलेखों को देखा जा सकता है।

सांची के दान दाताओं में अनेक व्यवसायी भी हैं, जैसे सेठि, वणिज, असवारिक, सोतिक (जुलाहा), पावारिक (सिले वस्त्रों का विक्रेता), रजुक, आवेसनि (प्रधान शिल्पी), कमिक (शिल्पी) वढकि, लेखक। सेठियों में उल्लेखनीय है रोहणिपद के नागदिन, अछवाट के नागपिय, कोरघर के नागिल और सीहु, अबा के सामनेर। इन्होंने तथा इनके परिवार के सदस्यों ने 15 से अधिक वस्तुओं का दान दिया था। वणिज वर्ग के दानदाता थे उजेनि के इसिदत, बेरोहकट के सघदेव, अस्ववती के इसिगुत, एवं समिक तथा सिरिगुत। इसके अतिरिक्त असवारिक पुसरखित, असवारिक सुलध; पावारिक इददत; रजुक उतर, सोतिक दमक के दान का ज्ञान है। शिल्पकर्म से संबंधित व्यक्तियों के दान महत्वपूर्ण हैं। इस प्रकार के दान दाताओं में उल्लेखनीय है राजा श्री सातकणि के आवेसनि और वासिठी के पुत्र आनंद; कमिक अभय, अठ, मनोरम; वाढनिक पियदमिक; राजलिपिकर सुवाहित; लिपिकर मुलगिरि। एक तोरण पर विदिशा के दंतकर्मियों का उल्लेख है 'वेदिसकेहि दंतकारेहि रूपकमं कतम्' जिनके हाथों कलाकृतियों की अद्भुत छटा उभरी है। यदि दान वस्तुओं की दृष्टि से विचार किया जाय तो व्यवसायी या उच्चपदस्थ व्यक्तियों ने जहाँ अधिक धन व्ययवाली वस्तुओं जैसे तोरण, स्तंभ, उष्णीष का दान दिया था वहीं भिक्खु-भिक्खुनियों तथा जनसामान्य के दानों में अधिकता अपेक्षाकृत कम लागत से बनने वाली सूचियों की है।

तोरण अभिलेखों में उत्तरी तोरण से भिक्खु धमगिरि बलमिता, असमित; पूर्वी तोरण से जिवा, दक्षिणी तोरण से आनंद, आर्य चुद के शिष्य बलमित के दान का उल्लेख है जिनके सहयोग से उनका निर्माण हुआ था। इनपर अंकित अभिलेखों से एक और महत्वपूर्ण सूचना मिलती है। पूर्वी तोरण के एक लेख में काकणाव के इस तोरण या वेदिका को क्षति पहुँचाने वाले या उसका कारण बनने वाले या इन्हें दूसरे आचार्यिय कुल में हस्तांतरित करने वाले को मातृ-वध, पितृवध, अर्हत्वध जैसे पापों का भागी बतलाया गया है। पश्चिमी तोरण अभिलेख में इस प्रकार के कृत्य करने वाले को पांच पापों का भागी बतलाया गया है। इन निषेधों से अभिप्रेत है कि

नगे बबुओं की अधिकता है। कुछ प्रभावशाली स्त्री-पुरुष मस्तक मथुरा, कौशांबी, भीटा, मसोन, अतरंजिखेड़ा, अहिच्छत्रा आदि स्थलों से ज्ञात हैं। कुछ के चेहरे विदेशी हैं। कुछ शान्त चेहरे वाली आकृतियां भोंडी हैं।

गांधार क्षेत्र से बुद्ध, बोधिसत्व की मूर्तियां तथा कुछ अन्य विषय मिट्टी माध्यम में ज्ञात है जो प्रस्तर मूर्तियों के समान गान्धार शैली में बनी है। इनकी शारीरिक बनावट, केश, मूंछ आदि मथुरा से भिन्न है। इस क्षेत्र की कलाकृतियां गचकारी या चूना पत्थर में बनी हुई है।

सातवाहन युग की कला

सातवाहन पश्चिमी भारत में मौर्यों के बाद प्रतिष्ठित होकर, उत्कर्ष एवं पराभव की विभिन्न स्थितियों के मध्य, लगभग 425 वर्षों (लगभग ईसवी पूर्व 200 से 225 ईसवी) तक शासनरत रहे। उनके द्वारा शासित क्षेत्र से अनेक व्यापारिक पथ गुजरते थे जिससे उपार्जित धन से समृद्धि, ऐश्वर्यशीलता, एवं वैभव की स्थिति विद्यमान थी। इसकी परिणति वस्त्राभूषणों से सुसज्जित अलंकारिक मूर्तिशिल्प में भी लक्षित है। भरहुत बोधगया, मथुरा, कौशांबी की परंपरा में निर्मित इस युग की कलाकृतियों की अपनी शैलीगत विशिष्टता दर्शनीय है। शुंग कालीन परंपराबद्धता से उन्मुक्त कला का सुगढ़ रूप एवं अंग-प्रत्यंग की तरल सर्जना यहाँ स्पष्ट है। शुंग काल के बाद स्थापित नवीन आदर्शों का पल्लवन सांची की सातवाहन युगीन कला में हुआ जान पड़ता है।

सांची : सांची का महान स्तूप (संख्या 1) धरातल से 54 फुट ऊँचा है, जिसके चारों ओर 120 फुट व्यास की विशाल वेदिका चारों दिशाओं में स्थित चार भव्य एवं अलंकृत तोरणों से सुसज्जित है। वेदिका के भीतर 7 फुट के प्रदक्षिणापथ पर शिलापट्ट बिछे हैं। धरातल से 16 फुट की ऊंची मेधि पर दूसरा 6 फुट चौड़ा प्रदक्षिणापथ है। इनके चारों ओर छोटी वेदिका है। यहाँ तक पहुंचने के लिए दक्षिण दिशा में दोहरा सोपान मार्ग है। इसके ऊपर हर्मिका तथा त्रिपत्र सहित छत्र यष्टि है। 9 फुट ऊँचे अष्टकोणीय स्तंभों, जो दो-दो फुट की दूरी पर है, के ऊपर एक दूसरे को बांधने के लिए 2 फुट ऊँचा उष्णीष है। स्तंभों के मध्य $3^{1}/_{4}$ इंच के अंतराल पर दो-दो फुट चौड़ी 3 सूचियां लगी हुई हैं। अलंकृत तोरण 34 फुट ऊंचे हैं। ऊंची पहाड़ी पर स्थित इस स्तूप की छटा देखते ही बनती है। इस महान स्तूप के निर्माण के विषय में ज्ञात होता है कि इसमें राजकीय सहयोग कम तथा जनसामान्य का योगदान अधिक था। इस स्तूप से ज्ञात अनेक (लगभग 650) अभिलेखों[27] में राजकीय व्यक्तियों के मात्र 3 अभिलेख हैं। इनसे रानी वासला, राजा श्री सातकर्णी के आवेसिन (प्रधान शिल्पी), तथा राजलिपिकार द्वारा दिए गए दान का ज्ञान होता है। अन्य अभिलेखों में स्त्री, पुरुष, संस्था द्वारा दिए गए व्यक्तिगत या सामूहिक दानों का उल्लेख है। स्त्रियों में सर्वाधिक दान भिक्खुनियों (भिक्षुणियों) के हैं। उपासिका तथा शिष्या ने भी दान दिया था। स्त्रियों के आपसी रिश्तों का भी ज्ञान है, जिसमें सर्वाधिक संख्या माता की है। उसके बाद क्रमशः कम दान देने वाली भार्या, भगिनि, पुत्रवधू, भतीजी, धारिणी की चर्चा है। पुरुष दान दाताओं में अधिकता भिक्खुओं (भिक्षुओं) की है। उपासक तथा गहपति सीमित संख्या में दान कार्य से संबंधित हैं। विभिन्न रिश्तों में पिता, पुत्र, भतीजा, भांजा के दान का उल्लेख है। इनके नाम विभिन्न अवयवों जैसे, सूचि, स्तंभ, उष्णीष, तोरण, वेदिका, प्रदक्षिणापथ के शिलापट्ट एवं रूपांकन पर अंकित है। ऐसी मान्यता है कि एक बार स्तूप परिवर्धन तथा विस्तारण का निश्चयन हो जाने के बाद भिक्षु आदि ने धन संग्रह के उद्देश्य से विभिन्न स्थलों की यात्राएं कीं। विशिष्ट व्यक्तियों या संस्था से प्राप्त धन की मात्रा तथा उनके द्वारा इच्छित दान वस्तु के अनुरूप उनका नाम उस वस्तु पर उत्कीर्ण किया गया। दान दाताओं में निकटस्थ तथा दूरस्थ दोनों ही क्षेत्रों के व्यक्ति हैं। इसप्रकार के 58 से भी अधिक स्थलों की जानकारी अभिलेखों से मिलती है। इन विभिन्न स्थलों में कुछ में से तो केवल एक ही व्यक्ति के दान का ज्ञान है, जबकि कोरर तथा उज्जैनी जैसे स्थलों से 50 से अधिक दानों का ज्ञान है। कुछ स्थलों, जैसे अवाढ़ी, मडलाचिकट, सानुकग्राम से तो केवल स्त्री दानदाताओं का उल्लेख मिलता है। एक ही स्थल या परिवार से संबंधित व्यक्तियों